

राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों पर शुरू हुए विवाद ने अनेक शैक्षिक सवालों को अनुत्तरित छोड़ा है जैसे कि क्या व्यक्ति अपनी प्रदत्त अस्मिताओं से मुक्त हो सकता है? क्या बच्चे अपने यथार्थ को समझने में सक्षम हो सकते हैं? क्या इसमें शिक्षा की कोई भूमिका हो सकती है? आदि-आदि। यह लेख इन्हीं सवालों के जवाब तलाशने की कोशिश करता है। साथ ही थोराट समिति की रिपोर्ट का आलोचनात्मक पाठ प्रस्तुत करता है।

सकारात्मक और नकारात्मक संदेशों में उलझी पाठ्यपुस्तक की बहस

अपूर्वानन्द

एनसीईआरटी की समाज विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों पर संसद में हुए हंगामे के बाद से हुई बहस प्रोफेसर सुखदेव थोराट की पाठ्यपुस्तक समीक्षा समिति की रिपोर्ट के आने और उस पर एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तकों की गुणवत्ता के लिए बनी राष्ट्रीय निगरानी समिति की निराशा की सार्वजनिक अभिव्यक्ति के बाद इस प्रसंग में नई संभावना के द्वार खुले हैं। यह पूरी तरह संसद पर है कि वह इन्हें बन्द न कर दे। ये संभावनाएं क्या हैं, इन पर बात करने के पहले उचित होगा कि थोराट समिति से राष्ट्रीय निगरानी समिति की निराशा को समझने की कोशिश की जाए।

ग्याहरवीं कक्षा की राजनीति अध्ययन की पाठ्यपुस्तक में संविधान सभा की सुस्त चाल को लेकर बनाए गए शंकर के एक कार्टून से शुरू हुआ विवाद पाठ्यपुस्तकों में कार्टून मात्र को वैध और अनिवार्य शैक्षणिक उपकरण मानने से इनकार तक पहुंच गया। सांसदों ने मुख्यतया राजनेताओं का उपहास करते हुए कार्टूनों के शैक्षणिक दुष्परिणाम को लेकर आशंका व्यक्त की। कुछ बुद्धिजीवियों ने 'जाति, जेंडर और वर्ग आदि के पूर्वग्रहों से ग्रस्त शिक्षकों और छात्रों' के बीच इनकी भूमिका को लेकर यह मत व्यक्त किया कि सम्भव है, ये उन पूर्वग्रहों को कक्षा में और गहरा ही करें। संसद की बहस में एक खास तरह की बदहवासी से भरी उत्तेजना थी और किसी में उन किताबों को पढ़ने का धीरज नहीं था। यह भी साफ था कि धुर दक्षिण से लेकर वाम तक, सभी सांसद एक ऐसे शैक्षिक सिद्धांत संसार के वासी थे जहां इन किताबों की भाषा समझी

परिचय

दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रोफेसर हैं, विभिन्न सामाजिक मुद्दों पर सक्रिय हैं और साहित्यिक समालोचक हैं।

नहीं जाती। 'बच्चों के कोमल मस्तिष्क' पर पड़ने वाले संभावित दुष्प्रभावों को लेकर जो चिंता वहां बार-बार व्यक्त की गई, उसी से यह स्पष्ट था कि वे बच्चे को एक स्वायत्त, निर्णय क्षमता युक्त इकाई मानने को तैयार नहीं थे।

संसद की बहस के साथ और उसके बाद अखबारों और अन्य जन-संचार माध्यमों में जो बहस हुई, उसमें बुद्धिजीवियों का एक बड़ा हिस्सा बच्चों को उनकी सामुदायिक अस्मिता के दायरे के बाहर देखने को तैयार नहीं था। कहा गया कि कक्षा सामुदायिक आग्रहों-दुराग्रहों के वृत्त में रहती है। इस बहस में इस पर विचार ही नहीं किया गया कि कक्षा इन पारंपरिक अस्मिताओं को समझने और उनके आग्रहों से जूझने के लिए छात्रों को जरूरी बौद्धिक उपकरण उपलब्ध कराने का उद्यम भी कर सकती है। अगर इस बहस को गौर से पढ़ें तो यह भी स्पष्ट होगा कि हमारे बौद्धिक समुदाय में शिक्षा की अपनी स्वतंत्र भूमिका को लेकर बहुत आश्वस्ति नहीं है। बुद्धि या मस्तिष्क का एक सापेक्षिक स्वायत्त लोक हो सकता है, जिसके अपने नियम हो सकते हैं, इस संभावना को विचारणीय ही नहीं माना गया। इस पर एक सहमति-सी थी कि सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों की सफलता और उनके दबाव का ही परिणाम है कि इन नई पाठ्यपुस्तकों में दलित, स्त्री और दूसरी उत्पीड़ित अस्मिताओं को, विशेषतः उनके नायकों को जगह जगह दी गई है। एक सामूहिक वक्तव्य में यहां तक कहा गया कि इन पाठ्यपुस्तकों के लेखकों के लिए अपने वर्गगत या लैंगिक या जातिगत आग्रहों से पूरी तरह मुक्त हो पाना संभव नहीं रहा होगा और उनके अनजाने ऐसे आग्रह किताबों की विषयवस्तु-चयन से लेकर और उसकी शैली को तय करने में अपनी भूमिका निभा रहे होंगे। इसका निष्कर्ष यही है कि आपकी लैंगिक, वर्गगत और जातिगत पहचान आपकी हड्डियों में समाई हुई है और आप कितना ही कहते रहें, आपको कभी भी उससे मुक्त नहीं माना जाएगा। यह एक प्रकार का सामाजिक-उद्भववादी नजरिया है और इसका शिकार पूर्व-साम्यवादी देशों के लेखक और बौद्धिक उद्यम में लगे लोग ही नहीं हुए, समाज के अन्य पेशों में लगे लाखों-लाख लोग भी हुए। गलत वर्ग में पैदा होने या उससे आनुवंशिक संबंध मात्र किसी को अपराधी ठहराने के लिए पर्याप्त सबूत था।

मनुष्य अपनी दी हुई सीमा को लांघ सकता है, स्वयं अपनी नई पहचान बना सकता है और उत्पीड़ित अस्मिताएं जब अपनी मुक्ति का संघर्ष करती हैं तो वे मात्र अपने को आजाद नहीं करतीं, उत्पीड़कों को भी यह अवसर देती हैं कि वे जीवन और समाज के बारे में नई समझ बनाएं और इस मुक्ति अभियान में शामिल हों। इस प्रसंग में कार्ल मार्क्स को याद करना अप्रासंगिक न होगा। वर्ग संघर्ष की व्यापकता के विषय में बात करते हुए वे यह कहते हैं कि सर्वहारा की मुक्ति प्रकारांतर से पूंजीपतियों की भी मुक्ति होगी। वे भी अन्य के श्रम के शोषण पर निर्भर जीवन जीने की बाध्यता के सिद्धांत से मुक्त होंगे और एक वास्तविक मानवीय जीवन जी पाएंगे। एक तरह से यह उनके लिए स्वयं को अपनी वास्तविक मानवीयता में अर्जित करने का अवसर होगा। दुर्भाग्य से एनसीईआरटी की राजनीति अध्ययन की किताबों पर चर्चा में अपने से परे जाने और नए हितों और नई अस्मिताओं का सृजन करने की मानवीय संभावना से पूरी तरह इनकार कर दिया गया। उसी क्रम में यह भी कहा गया कि अलग-अलग अस्मिताओं के अपने आधिकारिक व्याख्याताओं के अतिरिक्त किसी और का उनकी चिंताओं और दुविधाओं के बारे में चर्चा का अधिकार नहीं है।

क्या यह पूरी बहस एक तरह से आधार-अधिरचना के पूर्वापर संबंध की सैद्धांतिक दलदल में फंसी तो नहीं थी? यह प्रश्न किया नहीं गया। 1936 में प्रेमचंद ने साहित्य को राजनीति के पीछे-पीछे चलने की जगह उसके

इस बहस में इस पर विचार ही नहीं किया गया कि कक्षा इन पारंपरिक अस्मिताओं को समझने और उनके आग्रहों से जूझने के लिए छात्रों को जरूरी बौद्धिक उपकरण उपलब्ध कराने का उद्यम भी कर सकती है। अगर इस बहस को गौर से पढ़ें तो यह भी स्पष्ट होगा कि हमारे बौद्धिक समुदाय में शिक्षा की अपनी स्वतंत्र भूमिका को लेकर बहुत आश्वस्ति नहीं है।

आगे चलने वाली मशाल कहा तो वे दरअसल एक रूपकात्मक तरीके से भावना और विचार के स्वायत्त संसार का विचार प्रस्तावित कर रहे थे। क्या यह संभव नहीं कि 2005 की पाठ्यचर्या और उसके आधार पर बनाई गई स्कूली किताबें एक ऐसी ही शैक्षिक महत्वाकांक्षा के लोक का सृजन कर रही हों?

बच्ची को एक अधूरी, अनगढ़ कृति के रूप में देखने और बचपन को जल्दी से जल्दी बीत जाने या उससे छुटकारा पाने वाली आरंभिक और इससे कारण हीनतर अवस्था मानने की पुरानी आदत से मुक्त होना इतना आसान नहीं है। क्या बच्चियों से बराबरी के स्तर पर बात की जा सकती है? दूसरे शब्दों में क्या उन्हें वयस्कों से असहमत होने का अधिकार है? क्या वे वयस्क-संसार की विसंगतियों की ओर इशारा कर सकती हैं? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए ही राजनीति अध्ययन की किताबों में उन्नी और मुन्नी नाम के दो बाल-पात्र कल्पित किए गए। उनके नामों में भाषागत, क्षेत्रगत, जातिगत पहचानें धुंधली हैं और उनमें एक तरलता भी है। वे अभी किताबों के हाशिए पर हैं और वहीं से अपने 'बचकाने' प्रश्न करते हैं। क्या वे उन हाशियों से केन्द्र में आ सकते हैं? क्या अपने यथार्थ को पहचानने और व्याख्यायित करने की उनकी अपनी विधियों को स्वीकार्यता मिल सकती है?

अब तक मंत्री की आलोचना खूब हुई है। वह एक हद तक ठीक भी है क्योंकि वे अपनी ही संस्था की रक्षा नहीं कर पाए और एक कार्टून को हटाने की घोषणा संसद में करके उन्होंने एक तरह से पुस्तक-निर्माण प्रक्रिया की स्वायत्तता में अविचारित बाहरी हस्तक्षेप होने दिया।

ये किताबें ज्ञान की पवित्रता और उसे उसके 'स्वीकृत' और 'वैध' सामाजिक रूप में आत्मसात करने मात्र के स्थान पर उससे एक आलोचनात्मक संबंध बनाने की संभावना का प्रस्ताव कर रही हैं। हमें पता है कि अभी न तो हमारे समाज की और न शिक्षक की तैयारी इस संभावना को पूरी तरह मूर्त रूप देने की है। तो क्या इस सीमा को ही स्कूली ज्ञान-निर्माण की सीमा मान लिया जाए और उसका अतिक्रमण करने के प्रयास को अपराध घोषित कर दिया जाए? मई की राज्यसभा और लोकसभा की बहसों में तो कम-से-कम यही सुना गया जिनमें 'दोषियों' की पहचान करने और उन्हें सजा देने की मांग का सामना करने में मानव संसाधन मंत्री को दांतों पसीना आ गया।

अब तक मंत्री की आलोचना खूब हुई है। वह एक हद तक ठीक भी है क्योंकि वे अपनी ही संस्था की रक्षा नहीं कर पाए और एक कार्टून को हटाने की घोषणा संसद में करके उन्होंने एक तरह से पुस्तक-निर्माण प्रक्रिया की स्वायत्तता में अविचारित बाहरी हस्तक्षेप होने दिया। उस बहस को ध्यान से पढ़ने पर इस पूरे प्रसंग को मंत्री के साथ-साथ पूरी भारतीय संसदीय राजनीति की असमर्थता के एक उदाहरण के

रूप में भी इसे देखा जा सकता है। सिर्फ कश्मीर का एक सांसद संसदीय राजनीतिक दलों की असुरक्षा के चलते पैदा हुई इस हड़बड़ी की ओर इशारा करने का संकेत करता रह गया। उसके स्वर को संसदीय मतैक्य ने किसी को सुनने न दिया।

संसद के किताबों के खिलाफ इस एकमत आक्रोश को ध्यान में रखिए तो मंत्री के इस निर्णय का महत्त्व समझ में आता है जिसके मुताबिक किताबों पर निर्णय किसी फौरी कार्रवाई की तरह नहीं किया जाना था। उन्होंने इन किताबों की प्रकाशक संस्था, एनसीईआरटी को ही यह कहा कि वह एक समिति को यह काम सौंपे कि वह संसद में और बाहर इन किताबों को लेकर जो व्यग्रता दिखाई पड़ रही है, उसे अकादमिक तरीके से समझने की कोशिश करे। समिति मंत्रालय ने गठित नहीं की। इस प्रकार एनसीईआरटी और उसकी किताबों की स्वायत्तता को फिर से हासिल करने का एक संकेत दिया गया। एनसीईआरटी ने जो पाठ्यपुस्तक समीक्षा समिति गठित की उसे कहा गया कि वह इन किताबों को इस हिसाब से देखे कि क्या इनमें शैक्षणिक दृष्टि से अनुपयुक्त सामग्री है।

प्रोफेसर सुखदेव थोराट की अध्यक्षता वाली समीक्षा समिति इस प्रकार एक अकादमिक दायित्व का निर्वाह करने के लिए गठित की गई थी। उस पर वह दबाव भी नहीं था जो प्रायः एक सरकारी समिति पर होता है। उससे यह अपेक्षा थी कि वह स्कूली पाठ्यपुस्तकों पर बदहवास हमलों के बरक्स एक तार्किक वैचारिक अवकाश पैदा करे। दुर्भाग्य यह कि उसने ठीक इसके उल्टा किया। सबसे पहली अपेक्षा तो उससे यही थी कि वह शैक्षणिक उपयुक्तता को परिभाषित करे। आज के संदर्भ में क्या शैक्षणिक रूप से उपयुक्त है, यह समझने में इस रिपोर्ट से हमें कोई मदद नहीं मिलती। रोहित सेट्टी ने इसे अपने लेख में समझाने का प्रयास किया है। पहली निराशा का पहला कारण यह है वह तुरत-फुरत एक सेंसर बोर्ड की तरह, पाठ्यपुस्तक में से किस सामग्री को हटा दिया जाना है, इस काम में जुट गई। इसके लिए उसने कुछ दिशा-निर्देश तय किए। दूसरी निराशा इन निर्देशों को पढ़कर होती है। इन निर्देशों में कुछ शब्द उभर कर सामने आते हैं। वे हैं सकारात्मक, नकारात्मक, संदेश और संवेदनशीलता।

क्या पाठ्यपुस्तक का काम छात्र को सकारात्मक संदेश देना भर है? क्या उसका काम उसे नकारात्मक प्रभावों से बचाने का है? क्या संदेश देना किताबों या कक्षा का काम है? फिर ये संदेश भेजे कहां से जाते हैं? क्या उनका राज्य और प्रभुत्वशाली राजनीतिक प्रक्रियाओं के द्वारा द्वारा अधिकृत होना आवश्यक है? ये ऐसे सवाल हैं जिनसे यह रिपोर्ट बिल्कुल दो-चार नहीं होती। वह यह दावा करती है कि उसने अपना काम 2005 की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के आलोक में किया है। लेकिन पूरी रिपोर्ट से यह नहीं लगता कि इस दस्तावेज को वह ध्यान से पढ़ भी पाई है, उसे समझने या उससे कोई आलोचनात्मक संबंध बनाने की बात तो दूर है। वरना उस दस्तावेज के सबसे महत्वपूर्ण पद 'आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र' का हवाला इसमें अवश्य होता। सकारात्मक, नकारात्मक के अलावा एक और शब्द है, आलोचनात्मक। 2005 की पाठ्यचर्या इस आलोचनात्मकता के सृजन को शिक्षा का एक बड़ा उद्देश्य मानती है। इसके बिना उस लोकतांत्रिक विवेक का बनना मुमकिन नहीं जिसे साठ साल पहले मुदालियार आयोग ने शिक्षा के मकसद के रूप में रेखांकित किया था। मुदालियार आयोग तर्क-क्षमता युक्त व्यक्तिमत्ता के विकास को लोकतांत्रिक समाज के संदर्भ में शिक्षा का प्रमुख दायित्व मानता है। इसका अर्थ यह है कि वह पारंपरिक सामुदायिक दायरों से स्वतंत्र हो पाएगा। स्वतंत्र मेधा के विकास में बच्ची की कितनी सहायता शिक्षा कर पाती है, इसी से उसकी सार्थकता तय होगी।

क्या पाठ्यपुस्तक का काम छात्र को सकारात्मक संदेश देना भर है? क्या उसका काम उसे नकारात्मक प्रभावों से बचाने का है? क्या संदेश देना किताबों या कक्षा का काम है? फिर ये संदेश भेजे कहां से जाते हैं? क्या उनका राज्य और प्रभुत्वशाली राजनीतिक प्रक्रियाओं के द्वारा द्वारा अधिकृत होना आवश्यक है?

किताबों पर हमले में बच्चे के 'कोमल' और 'अपरिपक्व मन और मस्तिष्क' को लेकर काफी चिंता व्यक्त की गई थी और उसे दुष्प्रभावों से बचाने की दुहाई भी दी गई थी। कहा गया था कि वयस्क संसार में स्वीकृति कोई लाइसेंस नहीं जिसे स्कूली शिक्षा के लिए सामग्री चुनते समय इस्तेमाल कर लिया जाए। इस रिपोर्ट में इस धारणा की कोई चर्चा भी नहीं है, विश्लेषण का फिर सवाल ही कहां उठता है! बच्चे के कोमल मन के लिए कौन-सी वस्तु घातक होगी? उसके बारे में फैसला कैसे होगा? शैक्षणिक सार्थकता की कसौटी क्या होगी? इनमें से किसी सवाल से यह रिपोर्ट नहीं टकराती।

संवेदनाओं का प्रश्न स्कूली शिक्षा के लिए ही नहीं, अगले स्तर की शिक्षा के लिए भी महत्वपूर्ण रहा है। पिछले साल दिल्ली विश्वविद्यालय जैसी संस्था ने यह मानने के बावजूद कि ए. के. रामानुजन का रामकथा संबंधी लेख शोधपूर्ण और अकादमिक दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है, सिर्फ उत्तर भारतीय रामभक्त संवेदना के विशेष संस्करण के चोटिल हो जाने के कारण उसे स्नातक स्तर की पाठ्यसूची से बाहर कर दिया। उसके पहले मुंबई विश्वविद्यालय रोहिंटन मिस्त्री के उपन्यास को शिव सेना मार्का हिन्दू-संवेदना की आपत्ति के कारण बाहर कर चुका था। संवेदनाएं जैसे आहत होने को प्रस्तुत रहती हैं! संसद तो यह भूल गई थी, थोराट

समिति का काम उसे इसकी याद दिलाने का था कि छह साल पहले राज्यसभा ने ही एक साथ अनेक संवेदनाओं के पक्ष से एनसीईआरटी की हिंदी किताबों की आलोचना की थी। प्रेमचंद की रचना में ऐसे शब्दों का प्रयोग था जिनसे दलित और संवैधानिक संवेदना का अपमान होता था तो पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आत्मकथा से ब्राह्मण-संवेदना आहत होती थी। धूमिल की कविता एक साथ हिन्दू धार्मिक भावना को चोट पहुंचाती थी और रंडी जैसे अश्लील शब्द का प्रयोग करके सभ्यता की सीमा का उल्लंघन करती थी। एम. एफ. हुसैन की आत्मकथा का अंश अपनी उपस्थिति भर से हिन्दू भावना को भड़काने को काफी था। अवतार सिंह पाश की नक्सलवाद के प्रति सहानुभूति का उल्लेख भारतीय राज्य के प्रति बच्चों के मन में शंका पैदा कर सकता था। जगदीश चन्द्र माथुर का एकांकी स्त्रियों के लिए अपमानजनक माना गया और आरंभिक कक्षा की एक हिंदी किताब की एक कविता में छोकरी शब्द का प्रयोग असभ्य माना गया। यह याद दिलाना अप्रासंगिक न होता कि उस समय भी संसद ने एक मत से 'अपराधियों' की शिनाख्त कर उन्हें फौरन सजा देने की मांग की थी। क्या थोराट समिति के लिए उस बहस का विश्लेषण करना उचित न होता?

क्या उस पूरी घटना के भाषा-शिक्षण के लिए निहितार्थ पर विचार करना आवश्यक नहीं था?

ये किताबें राजनीति का अध्ययन करना चाहती हैं, राजनीति का अमूर्तन किए बिना, उसे उसके वर्तमान और ऐतिहासिक संदर्भ में। वह ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति, चरित्र अपनी भूमिका निभाते हैं और हमेशा वे आदर्शकृत नहीं किए जा सकते। राजनीति में शायद ही कोई ऐसा पात्र हो जिसका प्रत्येक अवसर पर एक-सा सुसंगत आचरण रहा हो।

थोराट समिति की 'सर्वसम्मत' रिपोर्ट से निराशा का एक बड़ा कारण यह है कि वह पाठ्यपुस्तकों को लेकर भारत में अलग-अलग कारणों से होते रहे विवादों के इतिहास से पूरी तरह अपरिचित जान पड़ती है। वरना वह यह बता पाती कि अलग-अलग वक्त पर अलग-अलग प्रकार की संवेदनाएं स्कूली किताबों पर ऐतराज जाहिर करती रही हैं। पूर्वा भारद्वाज ने अपने ब्लॉग 'मनमाफिक' पर शरण कुमार लिम्बाले के उपन्यास का एक अंश उद्धृत किया है जिसमें तांबे गुरुजी बाबासाहेब पर एक पाठ पढ़ा रहे हैं। गांव में इसकी खबर फैलते ही बेचौनी छा जाती है और गांव वाले कक्षा में घुस जाते हैं। उन्हें अपने बच्चों को बाबासाहेब का पाठ पढ़ाए जाने को लेकर खासा ऐतराज है। तांबे गुरुजी तर्क देते हैं कि यह पाठ किताब में है और हर किसी को पढ़ना जरूरी है। गांव वाले बच्चों से किताब निकालकर उस पन्ने को फाड़ डालने को कहते हैं जिस पर बाबासाहेब का पाठ छपा है। बच्चे उस पृष्ठ को फाड़ डालते हैं। उस समय उस गांव की प्रभुत्वशाली सवर्ण संवेदना बाबासाहेब के नाम से ही आहत और क्षुब्ध हो उठी थी। तो इसका अर्थ यह है कि समय विशेष में जो संवेदना प्रभुत्वशाली होगी, वह पाठ्यपुस्तक में शिक्षण सामग्री का स्वरूप तय करेगी और यह काम वह अपनी ताकत के बल पर

कर सकती है।

प्रभुत्वशाली राजनीतिक या सामाजिक संवेदना की आड़ में अन्य सभी संवेदनाएं स्कूली किताबों से अपना हिसाब चुकता करती हैं। 2006 की संसद की बहस से यह स्पष्ट है कि दलित और संवैधानिक संवेदना की आड़ में ब्राह्मण, हिन्दू, राष्ट्रवादी संवेदनाओं ने अपने-अपने हिसाब से असुविधाजनक पाठ बदलवा लिए। राज्य के साथ दिक्कत यह है कि वह किसी एक समुदाय की संवेदना के प्रति पक्षधरता नहीं दिखा जा सकता। उसे अपनी वैधता के लिए सभी संवेदनाओं के साथ समझौता करना ही होगा।

थोराट समिति की रिपोर्ट के साथ दूसरी परेशानी यह है कि वह स्कूली किताबों को अच्छा नागरिक बनाने का माध्यम मानती है और नागरिक शास्त्रीय मानसिकता से ग्रस्त है। वह इन किताबों के सैद्धांतिक आधार के प्रति संवेदनशील नहीं है। ये किताबें राजनीति का अध्ययन करना चाहती हैं, राजनीति का अमूर्तन किए बिना, उसे उसके वर्तमान और ऐतिहासिक संदर्भ में। वह ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति, चरित्र अपनी भूमिका निभाते हैं और हमेशा वे आदर्शकृत नहीं किए जा सकते। राजनीति में शायद ही कोई ऐसा पात्र हो जिसका

प्रत्येक अवसर पर एक-सा सुसंगत आचरण रहा हो। नई किताबें हमारे अब तक के पूज्य राष्ट्रीय चरित्रों के निर्णयों को उनकी अपनी परिस्थितियों के बीच रखकर उनका मूल्यांकन करने को उत्साहित करती हैं। स्कूली शिक्षा के इतिहास में पहली बार राजनीति की पाठ्यपुस्तकें इन चरित्रों को सही मायने में 'विचारणीय' बनाती हैं। थोराट रिपोर्ट इन किताबों की इस विशिष्टता को चिह्नित नहीं कर पाई है। यह उसकी एक और बड़ी कमजोरी है।

थोराट रिपोर्ट राजकीयतावादी मानसिकता से लिखी गई है और उसकी चिंता यह है कि राजनीतिक वर्ग किसी भी तरह बुरा न मान जाए। न सिर्फ यह, वह इस राज्य को चलाने वाली नौकरशाही को भी किसी तरह आलोचना का पात्र नहीं बनाना चाहती। राजकीय संस्थाओं के प्रति आलोचनात्मक रुख को भी वह स्कूली शिक्षा में असंगत मानती है। इसलिए राजनीतिक शब्दावली की जगह वह कानूनी शब्दावली का प्रयोग उचित मानती है। दलित शब्द के स्थान पर अनुसूचित जाति शब्द के प्रयोग की सलाह इसकी एक मिसाल है तो दूसरी मिसाल है भारत में जातिगत भेदभाव को रंगभेद के रूपक में प्रस्तुत करने पर ऐतराज। किताब में प्रयुक्त एक पोस्टर से रंगभेद शब्द को हटाने का सुझाव भी यह रिपोर्ट देती है।

रिपोर्ट की राजकीयतावादी व्यग्रता का एक और उदाहरण उसके इस प्रश्न में है कि इस किताब में विश्लेषण ही है या संश्लेषण भी है! जाहिर है विश्लेषण को आलोचना और बिखराव का समरूप और इस वजह से नकारात्मक माना जा रहा है और संश्लेषण को उसके विपरीत सकारात्मक। क्या विश्लेषणात्मक मस्तिष्क अपने-आपमें अपर्याप्त है?

थोराट रिपोर्ट की अपनी कार्यविधि में ही लोकतंत्र की जटिलता को लेकर उसके अधैर्य का पता चलता है। प्रोफेसर थोराट के अनुसार उनकी समिति ने यह तय कर लिया था कि वह सर्वसम्मत रिपोर्ट देगी। यह अजीब निर्णय था। समिति का कोई भी सदस्य इस प्रकार बहुमत से असहमत होने का अधिकार भी खो बैठता। इसी समिति के एक सदस्य प्रोफेसर एम.एस. पांडियन के साथ हुआ। यह पता चलते ही कि उनका मत इन किताबों के पक्ष में है, प्रोफेसर थोराट ने यह आवश्यक नहीं समझा कि उन्हें बहुमत की रिपोर्ट पढ़ने को भी दी जाए। उनका कहना है कि चूंकि तय किया जा चुका था कि 'सर्वसम्मत' रिपोर्ट देनी है, उस रिपोर्ट पर किसी सदस्य की असहमति का नोट नहीं जा सकता था। इसीलिए प्रोफेसर पांडियन को असहमत होने का अधिकार भी प्रोफेसर थोराट और उनसे सहमत बहुमत ने नहीं दिया। लोकतांत्रिक राजनीति का मूल आधार है अल्पमत को पूरी ईमानदारी और गंभीरता से सुना जाना। राजनीति अध्ययन की एनसीईआरटी की नई किताबें ऐसे स्वयं को सुनने और उनके महत्त्व को पहचानने के उपकरण और विधियां प्रस्तावित करती हैं। थोराट समिति की पूरी कार्य-पद्धति इसके ठीक उलट है।

उम्मीद की जाती थी कि थोराट समिति संसद और देश को यह बता सकेगी कि किताबों के प्रति सहनशीलता एक सभ्य समाज का गुण है। वह 2005 की पाठ्यचर्या के हवाले से यह भी बता सकती थी कि इस एक किताब के पसन्द न आने पर दूसरी किताबों का विकल्प खुला हुआ है। एनसीईआरटी को एक अकादमिक संस्थान के तौर पर इसकी आजादी होनी चाहिए कि वह तरह-तरह की स्कूली किताबें बना सके। उसके द्वारा निर्मित किताबों को राजकीय किताबों के तौर पर देखा जाना मुनासिब नहीं है। वह यह भी नोट कर सकती थी कि अभी इन किताबों को छः साल ही हुए है जो शिक्षा में बने-बनाए अभ्यास को तोड़ने के लिए बहुत कम है। दूसरे, नई पाठ्यचर्या के अनुसार शिक्षण-विधि को परिवर्तित करने के लिए शिक्षक-प्रशिक्षण को आमूल बदलना होगा। इस तरह के प्रश्नों पर इस समिति ने विचार ही नहीं किया।

2005 की पाठ्यचर्या में भारतीय स्कूली संसार के यथार्थ की पहचान तो है, लेकिन वह उस यथार्थ से सीमित और बाधित होने से इंकार करती है। उसके सिद्धांतों के आलोक में बनी ये किताबें भी उसी शिक्षा-साहस के लिए प्रकाश-स्तंभ जैसी हैं।

2005 की पाठ्यचर्या में स्कूली किताबों को शिक्षक और छात्र की सहायता के लिए अनेक संभावित शिक्षण सामग्रियों में से एक के रूप में ग्रहण करने का प्रस्ताव था। इसका अर्थ यह था कि अन्य शिक्षण सामग्रियों के चुनाव में शिक्षक का निर्णय अहम् होगा और उसे इस प्रसंग में स्वायत्तता होगी। किताबों पर संसद की बहस में और बाहर भी शिक्षक को इस योग्य माना ही नहीं गया। जैसा इस लेख के शुरू में कहा गया है, 2005 की पाठ्यचर्या में भारतीय स्कूली संसार के यथार्थ की पहचान तो है, लेकिन वह उस यथार्थ से सीमित और बाधित होने से इंकार करती है। उसके सिद्धांतों के आलोक में बनी ये किताबें भी उसी शिक्षा-साहस के लिए प्रकाश-स्तंभ जैसी हैं। उन्हें ध्वस्त कर देना एक तरह से जड़ता को स्वीकार कर लेना है, किसी भी प्रकार की यात्रा की संभावना को ही नकार देना है। 2012 में शिक्षक की स्वतंत्र भूमिका को मान्यता देने में संकोच का अर्थ यह है कि हम एक आत्म-आश्वस्त समाज नहीं रह गए हैं। हमें निरंतर राजकीय अभिभावकत्व की आवश्यकता है। क्या यह कहना होगा कि हर राज्य जनता को चिर-शैशवावस्था में ही रखने में इत्मीनान मिलता है?

थोराट रिपोर्ट अनेक प्रकार की सीमाओं की चर्चा करती है और एक मायने में यथार्थवादी रिपोर्ट है। उसमें न कोई स्वप्न है न साहस। इसलिए वह किसी तरह काम चला लेने वाली शिक्षा से संतुष्ट रह जाने के दिमाग की पैदाइश लगती है।

निगरानी समिति के पास अब यह अवसर है कि वह इत्मीनान से राजनीति अध्ययन की पाठ्यपुस्तकों पर उठे विवाद को एक अवसर की तरह ग्रहण करे और 2005 की पाठ्यचर्या द्वारा शुरू की गई बहस को आगे ले जाए। वह बजाय फौरी कार्रवाई के चिंतन के अवकाश को और विस्तृत करे। वह सांसदों को भी पुनर्विचार का मौका दे और जरूरी हो तो कुछ बौद्धिक औजार भी मुहैया कराए। वह 2005 के उस साहसिक क्षण का पुनराविष्कार करे जिसमें बावजूद कठोर वामपंथी विचारधारात्मक विरोध के और अनेक संशयों के यह शिक्षा-यात्रा आरम्भ की जा सकी थी। अभी तो इसकी शुरुआत हुई ही है। 2012 को एक नई चुनौती मान कर इस शिक्षा बाधा दौड़ को जारी रखने के अलावा और उपाय भी नहीं है। ♦